REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 10 | ISSUE - 6 | MARCH - 2021

शंकर मत में सामाजिक अवबोध और मोक्ष परामर्श

Karanghiya Mulubhai Devabhai
M.A., Ph.D.

सारांश

आचार्य शंकर के दर्शन को परंपरागत एवं आधुनिक आलोचकों ने 'जगन्मिथ्यावाद' के रूप में विनियुक्त किया है। इस विषय में प्रचलित है कि इनके चिन्तन वितान में समाज और सामाजिकता का सर्वथा निषेध किया गया है। इसे समुचित नहीं माना जा सकता है। प्रत्युत शंकर ने व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक संरचना में अधिष्ठित संसार को मिथ्या कहा है।1 उनकी दृष्टि में ज्ञान किसी तरह की मानसिक प्रक्रिया का परिणाम नहीं माना जा सकता। जब व्यक्ति निजी मनोवैज्ञानिक बंधनों से छूट जाता है वही मोक्ष है।2 मोक्ष निरपेक्ष ज्ञानात्मक स्थिति है और बंधन सापेक्ष तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति है। किसी व्यक्ति के मुक्त होने से वस्तुनिष्ठ जगत् अथवा समाज में कोई परिवर्तन हो जाता है, ऐसा शंकर का आशय कदापि नहीं है, अपितु उस व्यक्ति का दृष्टिकोण निर्द्वन्द्व और निश्चित हो जाता है। शब्दांतर से कहा जाय तो वह सभी प्रकार आग्रहों से मुक्त हो जाता है। वृत्तियों से निरपेक्ष इसीलिए निराकांक्ष जगत्–व्यवहार या सामाजिकता का निर्वाह करने लगता है।3 प्रस्तुत प्रपत्र में शंकर दर्शन में निरूपित सामाजिक अवबोध को समझते हुए उनके मोक्ष परामर्श से अन्विति की समीक्षा का प्रयास किया गया है।

शब्द कुंजी: आचार्य शंकर, मोक्ष परामर्श, 'जगन्मिथ्यावाद'.

प्रस्तावना:

मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों के बने–बनाए जिस ढाँचे में जन्म लेता है वही ढाँचा मनुष्य के जीवन पर प्रभावी रहता है।4 यह ढाँचा समाज है जो उन अवधारणाओं में से एक है जो कि अपने आप में सबकुछ है अथवा कुछ भी नहीं5 तथापि समाज की अवधारण को बोधगम्य बनाने के लिए इसे कई रूपों में स्वीकृत किया जाता रहा है, जैसे कभी संरचना के रूप में तो कभी आवृत्ति या व्याघात अथवा संस्कृति तो कभी प्रक्रिया रूप में।6 इतने अनिश्चित अर्थ वाले समाज के सम्बन्ध में तीन प्रकार से विचार किया जा सकता है – 1. उसे बाह्यतः देखकर विवरणात्मक रूप में, 2. उसे बाह्यतः देखकर उसके तात्त्विक सैद्धान्तिक रूप में, तथा 3. चेतना की उन वृत्तियों के अवलोकन–परिशीलन के द्वारा जो व्यक्ति का समाज के रूप में धारण करती हैं।7 ये तीनों प्रकार किसी न किसी विशिष्ट (प्रदत्त) समाज के रूप को जानने में सहायक हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि कोई ''एक समाज भी अनिवार्यतः एक विशिष्ट समाज ही होता है यदि वह एक विश्वव्यापी समाज भी है। क्योंकि वह अनेक सम्भावित समाजों में से एक होता है।''8 यहाँ समाज के उन तात्त्विक पक्ष को जानना

समीचीन है जो समाज सामान्य के लिए अभिप्रेत हो। तथापि इस प्रसंग में इतना कहा जा सकता है कि समाज और व्यक्ति दोनों मनुष्यमूलक सत्ताएँ हैं।9

मनुष्य के विषय में सहज–संवेद्य किंतु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मनुष्य के पास एक शरीर होता है बल्कि वह एक शरीर ही होता है। यदि और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो मनुष्य जैसे आत्मवान् है वैसे ही शरीरी भी है। उनका दैनिक जीवन उनके शारीरिक कार्यकलाप से प्रभावित होता है।... इस प्रकार मनुष्य की शारीरिक उपस्थिति, कम–से–कम, समाज के परिप्रेक्ष्य में गौण करके नहीं देखा जा सकता है।10 यद्यपि मानवीय व्यवहार को भौतिक पिंडों की यांत्रिक गति के समान किसी निश्चित नियमों के सहारे नहीं समझा जा सकता, न ही इसे पशुओं की नैसर्गिक प्रतिक्रियाओं की तरह ही समझ सकते हैं। फिर, ऐसा नहीं है कि मानव को भौतिकता और पशुता से पूर्णतः स्वतंत्र और विरहित माना जा सकता है प्रत्युत उसे अन्य विशेषताओं से विशिष्ट किया जाता है।11 क्योंकि मानवीय व्यवहार में प्रत्यक्ष विषय अप्रत्यक्ष विचारों और प्रयोजनों से जुड़े रहते हैं जिनमें मानवीय इच्छा और कर्तव्य हेतु रूप से विद्यमान रहते हैं।12

समाज की निर्माण–प्रक्रिया जानने के यत्न में तर्क और विचार मिथक तथा पौराणिकता में उलझने लगते हैं। इस विषय में संस्कृत परंपरा में ऐसा मिथक प्राप्त होता है कि ''विराट् पुरुष ने आत्मोसर्ग के द्वारा मानव–समाज की रचना की जिसमें चारों वर्ण अपनी गुणात्मक वृत्ति के साथ रहते हैं।'' इसके साथ यह भी माना जाता है कि उस विराट् पुरुष के चौथे हिस्से से ही सृष्टि की संरचना हो गयी। शेष कहीं अन्यत्र (दिवि) सुरक्षित है। इससे इतना तो विदित होता है कि मानव समाज अनुभूति पक्ष के अतिरिक्त किसी 'परम' से भी सम्बद्ध है।13 भारतीय दार्शनिक परम्परा समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्त को सृष्टि की व्याख्या में ही अन्तर्निहित कर देती है। मनुष्य–व्यक्ति में सामाजिक होने की विशेषता को जन्मजात माना जाता है क्योंकि यहाँ जन्म को पुनर्जन्म के रूप में स्वीकृत किया गया है जिसका आधार पूर्व जन्म के कर्म हैं। अपिच, यह पुनर्जन्म का चक्र अनादि और अनंत है।

आचार्य शंकर इन मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं। उनके मतानुसार, पूर्व जन्मों के कर्मों से ही स्थूल देह की प्राप्ति होती है जिसके माध्यम से जीव (व्यक्ति) जगत् (समाज) का उपभोग करता है। इसी देह के जन्म, जरा, मृत्यु, स्थूलता आदि गुण हैं। बालपन, यौवन आदि अवस्थाएं हैं, वर्णाश्रम आदि सामाजिक मर्यादाएं हैं और सम्मान, अपमान आदि सामाजिक विशेषताएं हैं। प्रत्येक जन्म में स्थूल देह तो नया होता है किन्तु सूक्ष्म शरीर पिछले जन्म की वासना से युक्त होता है। यही चिदात्मा पुरुष के संपूर्ण व्यापारों का साधन है। इस सूक्ष्म शरीर के साथ पंच कर्मेन्द्रियां, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच प्राण, पंचभूत, अंतःकरण चतुष्ट्य, अविद्या, काम और कर्म–सभी चलते हैं। यह आत्मा के साथ अनादिकाल से है। सूक्ष्म शरीर ही वस्तुतः जीव के व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाला तत्त्व है।14

शंकर के अनुसार, आत्मा यद्यपि नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, इसलिए संसारातीत अर्थात् समाजातीत है। यह जीव अर्थात् व्यक्ति का आदर्श रूप है। किन्तु वह आदर्शच्युत जीव अपने अज्ञान के वशीभूत होकर लोकव्यवहार अथवा समाज में आबद्ध हो जाता है। संसार के प्रति उन्मुख करने वाले अज्ञान के कारणों की खोज नहीं की जा सकती।15 वस्तुतः यह मिथ्याप्रतीति ही सांसारिकता को प्रक्षेपित भी करती है।16 इसलिए, समाज–चर्चा के प्रसंग में अध्यास एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा के रूप में उपस्थित होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिसे पूर्वाग्रह की तरह से समझा जा सकता है।17 इस अध्यास का आधार चित्त है, तो सामाजिकता का अधिष्ठान अध्यास है। इसलिए, ''समाज द्रव्यसत् न होकर प्रतिज्ञप्तिसत् पदार्थ है, उसकी सत्ता नहीं है किन्तु उसका अभाव भी नहीं है।'' समाज के प्रत्यय में समुदाय और समुदायकारक धर्म दोनों ही प्रकार के प्रत्यय संग्रहीत हैं। मनुष्यत्व का एक पक्ष सामाजिकता होने के कारण मूल समाज मानवताव्यापी होना चाहिए, मनुष्यता और सामाजिकता के अनेक प्रकार होने से देशकाल, जाति, भाषा कार्य, व्यवस्था आदि अपेक्षा से मानव समाज अवान्तर कई समाजों में विभक्त देखा जा सकता है।18

अब, व्यावहारिक आत्मा यानी व्यक्ति, जिसे 'सामाजिक स्वत्व' भी कहा जाता है, सच्चिदानन्द के मूल रूप में अधिगृहीत नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह अविद्या के हस्तक्षेप से ही निर्मित होता है। यहाँ, इस व्यवहार जगत् के धरातल पर यह सर्वथा सत्य है कि ''चेतना जीवन को निर्धारित नहीं करती प्रत्युत जीवन चेतना को निर्धारित करता है।'' यद्यपि मानव व्यक्ति की चेतना उसकी सर्वांगीण सार्थकता का आधार अवश्य है। चेतना की स्वतंत्रता, विषयिता और आत्म–परामर्श उसे व्यक्तित्व देते हैं। उसकी संप्रेषणीयता, संस्कार्यता,

विषयात्मकता और परापेक्षता उसे सामाजिकता देती है। जब समाज के सदस्यों में समानचित्तता के दर्शन होते हैं, इसका कारण शिक्षा–दीक्षा, लोकानुवृत्ति आदि अभ्यास होते हैं।19 शंकर सामाजिक व्यक्ति को आत्म और अनात्म के सम्मिश्रण से उद्‌भूत पाते हैं।20 जहाँ आत्मत्व सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं, निरपेक्ष है वहीं अनात्म तत्व अनेक प्रकार के संस्कार, वृत्ति, वासना से सम्बद्ध है। इन्हें समकालीनता में बढ़ाया घटाया जा सकता है। ऐसा लोकानुभव भी है कि प्रत्येक समय का वर्चस्व जनमानस को अपने अनुकूल बनाने हेतु प्रयत्न करता है। किन्तु मनुष्य स्वतंत्रताभिलाषी है। यह अभिलाषा ही मुमुक्षा है। मनुष्य के लौकिक–पारलौकिक जितने भी प्रयत्न देखे जाते हैं – सभी स्वतंत्रता की अभिलाषा के प्रयोजन से होते हैं।21 किन्तु यदि वह विवेकपूर्ण नहीं होता है तो वह स्वतंत्र करने के बजाय परतंत्र करता है। शंकर का चिन्तन इस स्थिति से सुपरिचित होकर, मनुष्य के ज्ञानात्मक स्वतंत्रता का परामर्श करता है। इसके लिए आदर्श स्थिति है – मोक्ष। मोक्ष की अवधरणा शुद्ध ज्ञानात्मक है। इसमें मान्यताओं, अनुकरणों, विश्वासों और अन्ततः शास्त्रों और गुरुओं तक को अन्य माना गया है। यह स्थिति शंकर की दृष्टि में आदर्श स्थिति है जिसका नाम है मोक्ष। मोक्ष की स्थिति को प्राप्त व्यक्ति सभी सीमितताओं से उबर जाता है। यह स्वतंत्रता है, जो कि किसी भी नियम से निरपेक्ष होता है।

शंकर के अनुसार, मोक्ष ज्ञान की आत्यन्तिक अवस्था है। इसमें विषयी व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक वृत्ति का लेशमात्र भी समावेश नहीं होता। ज्ञानपूर्वक कर्म, यहाँ श्रेष्ठ माना गया है, यह कर्त्तव्यपरता की सर्वोच्च स्थिति है। व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति के उत्तरकाल में समाज से बाहर नहीं जाता अपितु अपनी वैयक्तिक कृपणता से रहित हो जाता है। ममत्व की सीमा उदात्त हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति कर्म के फल की आकांक्षा से ही कार्य में संलग्न होता है तो कार्य के दृष्टिकोण में स्वार्थपरता की संभावना बनी रहती है। किन्तु यदि बिना किसी पूर्वाग्रह के अथवा शुद्ध कर्तव्य भावना से किए गए कर्मों में हिंसा आदि को भी वर्जनीय नहीं माना है। मुक्त पुरुष उन्मत्त की तरह असामाजिक नहीं होते अपितु वे सामाजिक रूढ़ियों अथवा मान्यताओं की, वर्जनाओं की अपेक्षा विवेक से संचालित होते हैं।

मोक्षाभिलाषियों के लिए शंकर ने कुछ योग्यता बताई है – नित्य और अनित्य वस्तुओं को जानने का 'विवेक' हो, उसे किसी प्रकार का, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, लालच न हो। वह शम, दम आदि शारीरिक मनोवैज्ञानिक उतार–चढ़ाव को सहन करने में सक्षम हो और मोक्ष अथवा निरपेक्ष ज्ञान का अभिलाषी हो। इन योग्यताओं में सामाजिकता का न तो कोई उल्लंघन है, न ही तिरस्कार। किन्तु एकनिष्ठता का प्रस्ताव अवश्य परिलक्षित होता है।

विश्व इतिहास में वास्तविक स्थिति की व्याख्या में अनेकत्व का प्रचलन देखा जा सकता है। किसी भी सामाजिक स्थिति की व्याख्या कोई भी व्यक्ति अपने अपेक्षा से करते हुए अपना निजी प्रयोजन न साध ले। इसलिए स्थिति का एक निरपेक्ष पाठ तैयार किया जाए, जो कि वास्तविक ज्ञान पर ही आधारित हो – शंकर का ऐसा अभिप्राय है और सभी प्रमाणों का अन्तिम बिन्दु है – अनुभव। इस तरह, वास्तविक का अनुभव ही मोक्ष है। मोक्ष परामर्श का निश्चित उद्देश्य है कि सत्य का एक ही अनिवार्य पक्ष है और अनेकान्त भ्रममूलक है। कोई व्यक्ति अपने निजी लाभ के लिए सामाजिक वास्तविकता की अपव्याख्या नहीं कर सकता।

अन्त में इतना बताना आवश्यक है कि मोक्ष परामर्श कर्म की यांत्रिकता का निषेध नहीं करता अपितु कर्ता के मनोवैज्ञानिक हस्तक्षेप को निरस्त करने की अनुशंसा करता है। ऐसा मानना कि शंकर का मोक्ष विषयक परामर्श मुक्त व्यक्ति को समाज से निर्वासित नहीं करता, न ही समाज की उपस्थिति का निषेध करता है, यह संगत है।

संदर्भ एवं टिप्पणीः

1. न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनोह्यविद्या भवबन्धहेतुः। वि.चू. 171
2. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। मु.उ. 2.2.8 पर शां.भा.
3. वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिंछायावदनुवर्तिनि।
   बहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।।
   अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम्।
   औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।। वि.चू. 432–3
4. Human beings are born into a readymade set of social-relation which completely dominate their lives. Compvel, Tom; Seven Theories of Human Society.

5. वही
6. वही
7. शल्य, यशदेव, समाज, प्राक्कथन
8. वही
9. वही
10. Turner, Bryans; The Body Society, oxford, 1984.
    जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादव्ययम् वृत्यभावात्। ब्र.सू.भ. 1.2.3.
11. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, समाज – यहाँ यह सोचना भ्रांति होगी कि मनुष्य कोई अतिप्राकृतिक सत्ता है या उसकी स्वतंत्रता प्राकृतिक नियमों से परे है।
12. वही
13. Dayakrishna, Classical Indian Thought, pp. 159-60. & 10-108 (पुरुष सूक्त)
14. पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा।
    समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः।
    अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः।।90।।
    स्थूलस्य सम्भवजरामरणानि धर्माः
    स्थौल्यादयो बहुविधाः शिशुताद्यवस्थाः।
    वर्णाश्रमादिनियमा बहुधा यमाः स्युः
    पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः।।93।।
    वागादिपंच श्रवणादिपंच
    प्राणादिपंचाभ्रमुखानि पंच।
    बुद्धयाद्यविद्यापि च कामकर्मणी
    पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः।।98।।
    इदं शरीरं श्रृणु सूक्ष्मसंज्ञितं
    लिङ्गं त्वपंचीकृतभूतसम्भवम्।
    सवासनं कर्मफलानुभावकं
    स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः।।99।।
    स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था
    स्वमात्रशेषेण विभाति यत्र।
    स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्–
    कालीननानाविधवासनाभिः।
    कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते
    यत्र स्वयंज्योतिरयं परात्मा।।100।।
    धीमात्रकोपाधिरशेषसाक्षी
    न लिप्यते तत्कृतकर्मलेशैः।
    यस्मादसंगस्तत एव कर्मभि–
    र्न लिप्यते किंच्दिुपाधिना कृतैः।।101।।
    सर्वव्यापृतिकरणं लिंगमिदं स्याच्चिदात्मनः पुंसः।
    वास्यादिकमिव तक्ष्णस्तेनैवात्मा भवत्यसंगोऽयम्।।102।।
    वि.चू. 90, 93, 98–102 और ब्र.सू.भा. 3.1.1.
    जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रिय समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहायं देहान्तरं प्रतिपद्यते। ब्र.सू.भा. 3. 1.1.
15. 'अनादि' पद का प्रयोग अज्ञात कारण के लिए हुआ है। विशेष विवरण के लिए ब्र.सू.भा. 2.1.35–36 देखें यहां बताया गया है कि कर्म के लिए शरीर और शरीर के लिए कर्म अपरिहार्य है। अतएव बीजांकुर न्याय से बचने के लिए संसार को अनादि मानना पड़ेगा।

16. परत्रपूर्वदृष्टावभासः।
17. कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः।
18. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, समाज
19. वही
20. सत्यानृते मिथुनीकृत्य।
21. आमनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

Karanghiya Mulubhai Devabhai
M.A., Ph.D.